जनम

ओमा शर्मा

हिन्दी ADDA

जनम

https://www.hindiadda.com/janam/

वे सुनाते जा रहे थे।

और हम सब टकटकी लगाकर सुने जा रहे थे - गोया बचपन की राजा-रानी को कहानी में राजकुमार तमाम पहरेदारों को चकमा देकर राजकुमारी के कक्ष तक जा पहुँचा हो, किवाड़ पर 'धप्प' करने ही वाला हो की दरबानों के पदचापों का हमला।

क्या करेगा अब राजकुमार?

'क्या किया फिर आपने उस मरीज के साथ डॉकसाब...'

'अजी करना क्या था, जिस औरत का लड़का एम.बी.बी.एस. डॉक्टर हो, वह उसके सिर दर्द का इलाज नहीं कर सके... यह कैसे हो सकता है मगर भाई साहब ऐसा ही था, बेचारा भला आदमी अपनी सारी डॉक्टरी के पत्ते खेल जाता था, उबले हुए पानी से लेकर दवाओं के नियमित सेवन तक, पर वो बुढ़िया उसे कोसती रहती कि क्या पढ़ा है तूने, जो इस दर्द को नहीं दूर कर सकता... तू हमारे वाले डॉक्टर साब को बुला दे...।'

'और यकीन मानिए जब मैं वहाँ पहुँचा तो उसके चेहरे पर एक ऐसी आभा प्रशस्त हो गई थी कि उसका बखान नहीं कर सकता। बुढ़िया को पहले जोड़ों का दर्द रहता था और मैंने ही इलाज किया था, अजी अपने पास ऐलोपैथी-शैलोपैथी तो है नहीं बस होमियोपैथी है, मगर बुढ़िया को इतना सूट कर गई कि वह मेरी मुरीद हो गई। कहने लगी, ये डॉक्टर साब सबसे ठीक हैं, गोली भी ऐसी देते हैं जो मरीज को लेने में तकलीफ ना दे। ऐलोपैथीवालों को तो दिन-रात कोसती थी। अरे डॉक्टर बनाए हैं मरीज का दर्द कम करने को या दर्द बढ़ाने को इतनी कड़वी-कड़वी गोलियाँ और ऊपर से इंजेक्शन...'

'हाँ तो मैं उसके सिर दर्द की बात कर रहा था, मैं बुढ़िया की बड़ी देर तक नब्ज देखता रहा, फिर साँस चैक की, आँखें खोलकर देखीं, भीतर तक जीभ का मुआयना किया, उसकी हथेली को मामूली सा दबाकर उसकी प्रतिक्रिया ली। आप सोच सकते हैं कि इन सभी हरकतों का सिर दर्द से क्या वास्ता हो सकता है और सच कहूँ तो ये सब हरकतें मैं उससे अपना संवाद स्थापित करने के लिए ही कर रहा था।'

'माताजी अब भी कपड़ों में बटन तो नहीं टाँकती हो' मैं उसकी आँखें चौड़ाकर देखता और पूछता।

'माताजी अब भी सुबह पाँच बजे नहाती हैं या बंद कर दिया' उसकी जीभ बाहर निकलवाकर मैंने पूछा।

'माताजी आपने घूमना टहलना शुरू किया या...' उसकी हथेली के कड़कपन को महसूस करते हुए मैंने पूछा।

अरे साहब, बात थोड़ी इधर-उधर हो गई।

खैर, मुआयना करने के बाद उसके डॉक्टर सुपुत्र के सामने ही मैंने कहा, 'माताजी आपकी हड्डियों के बीच में ना, थोड़ी यूरिया की परत जम गई है। जैसे कभी पानी गरम करते हैं, तो बर्तन में सफेदी जम जाती है ना, उसी की तरह। बर्तन को तो आप खँगालकर या साबुन से साफ कर देते हैं, पर हमारा शरीर (डॉक्टर ने बोला था 'श्रीर') जो है उसे बराबर सफाई नहीं मिलती है, शरीर अपनी तरह से उसकी सफाई करता है, सिर दर्द उसी का नतीजा है। लेकिन ऐसी दवाइयाँ हैं, जो इसे एकदम ठीक कर देती हैं।'

और जी मैंने एक खाली शीशी में तीन दिन की दवाई भर दी। डॉक्टर बेटे को बोल दिया कि इनको गर्म पानी के साथ खाने के दस मिनट बाद दे देना। तीन छोटी-छोटी पुड़ियाँ भी दीं और कहा कि अगर ज्यादा दर्द हो तो गोलियाँ खाने के पंद्रह मिनट बाद एक दे देना।

डॉक्टर बेटा मेरी तरफ आँखें फाड़कर देखने लगा कि ये यूरिया का चक्कर कहाँ से आ गया, क्या होम्योपैथी की दवाई भी गर्म पानी से ली जाती है मगर मैंने उसे बाहर ले जाकर समझाया कि क्या माजरा है। दरअसल दोनों में से कोई दवाई थी ही नहीं, बस खाली गोलियाँ (ग्लोब्यूल्स) थीं, जो होम्योपैथी के हर डॉक्टर के पास रहती हैं।'

और साब मेरे जाने के बाद आधा घंटे के बाद ही उसका फोन आ गया कि जो दर्द सुबह उठते ही शुरू हो जाता था और किसी विद्युतधारा की तरह देर रात तक बना रहता था, नदारद हो गया है।

'डॉक्टर साब, दर्द तो ठीक हो गया है, अब उस पुड़िया को भी लेना है या नहीं' उधर से उसने पूछा।

उसकी आवाज सुनते ही मेरे आँसू आ गए, यह जानकर कि एक मरीज मुझ पर इतना यकीन करता है। आप यकीन मानिए उस उपचार में, आस्था-विश्वास के सिवाय कुछ भी नहीं था। क्या भगवान होना इसी को नहीं कहते हैं खैर जी, मैंने कहा कि 'अम्माजी दर्द ठीक हो गया तो अच्छी बात है, लेकिन एक पुड़िया तो ले ही लो, ये उसे जड़ से निकाल देगी, जैसे पौधे को उखाड़ने पर एकाध जड़ फिर भी जमीन में फँसी रह जाती है, ऐसा ही यह दर्द करता है। ये पुड़िया उसका सफाया कर देगी।'

वह डॉक्टर जब अपनी अनुभव-कथा सुना रहे थे तो हम सबके चेहरों पर उनके अनुभव और ईमानदारी के प्रति आदर भाव प्रकट हो रहा था। इसलिए भी कि वे इलाज को दवा गोलियों के तंत्र से परे करके देखते थे। हमारी ट्रेन दिल्ली से ही रवाना हुई थी और उन्होंने गाड़ी चलने के कुछ क्षण पूर्व ही पदार्पण किया था। अभी दोपहर का ही समय था, मगर आते ही वे अपनी चादर तानकर सो गए, जिससे वे कोई डेढ़ घंटे बाद ही निवृत्त हुए। एक चायवाला निकलने लगा तो उसे टोककर चाय माँगी और अपने बस्ते से मुरमुरे के लड्डू निकालकर खाने लगे। सामने बैठ युगल की एक चार-पाँच वर्षीय पुत्री को भी एक लड्डू पकड़ाया। साथ में तालियों का बोनस भी दिया। बच्ची का नाम, स्कूल, कक्षा, रोल नं. तथा दोस्तों की फेहरिस्त में घुसते हुए वे इतने सहज हो गए कि हम सब असहज होने लगे, जैसे उस डिब्बे में वे दूसरी ट्रेन चला रहे हों। थोड़ी देर में ही वह बच्ची,जिसका नाम हम लोगों यानी दूसरे सहयात्रियों के लिए, नेहा नाम की सूचना थी; के माता-पिता भी उनसे बतियाने लगे। बच्ची की माँ ने थोड़ी देर में ही अपनी लगातार बनी रहनेवाली ऐसीडिटी की शिकायत भी उनको दर्ज करवा दी थी जिसके समाधान स्वरूप उन्होंने तुरंत ही शाकाहारी होने का आग्रह कर दिया था, और दूसरा सुझाव कभी पेप्सी या कोका-कोला न पीने का दिया था क्योंकि इनमें आम्लिक तत्वों की भरमार रहती है।

शायद मैंने कुछ आशंकित निगाह से उन्हें घूरा था।

'आप नहीं मानते' मेरा परिचय लिए बिना ही उन्होंने सवाल दागा।

'जी हाँ... मांसाहार और ठंडे पेयों के प्रति आपकी जो भी राय है, बहुत जमती नहीं है' मैंने दो टूक कहा।

'ठीक है, आप एक काम करें। उबले अंडे को पानी में रख दें - वह दस वर्ष तक ज्यों का त्यों न बना रहे, दूसरी तरफ, एक टूटे हुए दाँत को पेप्सी की बोतल में रख दें, पाँच दिन बाद अगर उसका नामो-निशां रह जाए तो मैं अपनी प्रेक्टिस छोड़ दूँगा...'

उनका उत्तर इतने कड़क और रेडीमेड अंदाज में आया कि मुझे कुछ नहीं सूझा।

न तो उबले अंडे को मैंने पानी में रखने का प्रयोग किया था और न पेप्सी की बोतल में टूटा हुआ दाँत डाला था। फिर भी उनकी बात के मर्म पर अविश्वास नहीं हो रहा था। उनकी आवाज की गहराई से लग रहा था कि वे झूठ तो कम से कम नहीं ही बोल रहे हैं।

'तमाम डॉक्टर लोग तो अंडा खाने की सलाह देते हैं और आप...' मैंने अपनी हार न मानते हुए जड़ा।

'अजी डॉक्टरों से बड़ा डाकू आज के टाइम में कौन है?'

उनकी बातों अभी तक आकर्षण का केंद्र थीं, लेकिन अपने ही बंधु-बाँधवों के प्रति ऐसी एकमुश्त और करारी टिप्पणी ने चौंकाया। क्या यह आदमी इतना तटस्थ और निष्पक्ष है।

शायद जयपुर स्टेशन आ रहा था। गाड़ी में गहमा-गहमी और बढ़ गई थी, क्योंकि यहीं पर डिनर सर्व होना था। जो लोग अपना खाना लाए थे, उन्होंने उसे निकाला और शुरू हो गए। जो नहीं लाए थे, उनका ऑर्डर पहले ही एक लड़का ले गया था और यहाँ परोस रहा था।

'डॉक्टर साब आपका खाना... अब तक कुछ अंतरंग हो आए उस बच्ची के पिता ने पूछा जो डॉक्टर साब की डिब्बे में सबसे पहली दोस्त बनी थी और जो कक्षा एक 'सी' में पढ़ती थी।'

'अजी मेरा खाना तो कब का हो गया, भुने हुए चने और मुरमुरे के लड्डू खाने होते हैं, सो खा लिए। बरसों से यही आदत है। तली चीजें बंद की हुई हैं।' वे अपनी उम्र से भी ज्यादा बुजुर्ग होने लगे।

गहमा-गहमी और चाय गरम की चिल्ल-पौं के मध्य ही उन्होंने कुछ गैरजरूरी दार्शनिकता ओढ़ते हुए जो कहा, उसका लब्बोलुबाब यही था कि आदमी को आखिर पेट भरने के लिए चाहिए ही कितना होता है। यह तो उसकी मूर्खता है कि पेट भरने के नाम पर जो चटखारेवाली चीजें वह जीमता- खाता है, उसके लिए कैसा जहर साबित होती हैं। जब वह सँभलता है, अमूमन बहुत देर हो चुकी होती है। आदमी की जरूरत कितनी कम है, इसकी कोई सोच नहीं सकता, ठीक वैसे ही जैसे उसकी हवस कितनी अथाह है, इसका अंदाज नहीं किया जा सकता है।

खैर, हमारा खाना हुआ। बच्चों की धमाचौकड़ी मंद होते-होते निंद्रासन में समा गई जिसके लिए ऊपर की बर्थें मुफीद थीं।

मैं अपने अनुमान से कह सकता हूँ कि हम सबका - यानी हम दोनों पति-पत्नियों का तो कम से कम मन था कि डॉक्टर साब से और बातें करें। कितने समृद्ध अनुभवों का पिटारा है उनके पास!

'तो आप माउंट आबू जा रहे हैं।' पता नहीं कहाँ का तार जोड़ते हुए मैंने पूछा उनसे। इस नाम का वे कई बार उल्लेख कर चुके थे। शायद नेहा के साथ गुफ्तगू में।

'जी हाँ, जा तो रहा हूँ, मगर अगले हफ्ते फिर लौटना पड़ेगा...'

'तो क्या आप आबू में नहीं रहते हैं?' मैंने विस्मय से पूछा।

'अरे नहीं साब... माउंट आबू तो मैं अपनी सेवाएँ देने जाता हूँ... ब्रह्मकुमारी आश्रम में... बड़ा सुख-सुकून मिलता है वहाँ...'

और इस मुकाम पर मैं वह सवाल करने से खुद को नहीं रोक पाया जिसने पूरे विमर्श की दिशा ही बदल दी। दरअसल यह सवाल किसी निजी बियाबान में काफी पहले से ही कुलाँचें मार रहा था।

'डॉक्टर साब आपका परिवार बच्चे?'

इस खुले-अधखुले प्रश्न ने पल भर में गोकि उन्हें अपनी गिरफ्त में ले लिया, जिसकी उपस्थिति को दर्ज कर रही थी उनकी रहस्यमयी, मगर मायने दर्शाती वह मुस्कान, जो बहुत जल्दी-जल्दी उनके अधरों पर भारी भरकम बूटों सहित कदमताल कर रही थी, जैसे उनका साम्राज्य छिन्न-भिन्न कर रही हो, गले में अटकी फाँस की तरह, जिसे वे तुरंत निकाल फेंक बाहर करने का असफल प्रयास कर रहे थे।

किसी टूटे हुए स्वर को जोड़ने की हड़बड़ी में वे बोले - 'परिवार... परिवार है ना... भाई का है... भतीजी भतीजे हैं, मेरठ में रहते हैं... वैसे मैं तो अकेला ही हूँ, बेचलर...'

एक शब्द (आखिरी) के बखान में उन्हें काफी सायास होना पड़ा, हालाँकि पार्श्व में एक संदिग्ध हँसी बड़ी लाचारी से छितर आई थी।

'इसका कोई विशेष कारण?'

मुझे इस तरह के निजी मामले में पड़ने को कतई जरूरत नहीं थी, पर मेरे साथ यह खूब होता है कि दुनियावी शालीनता को भंग करके ही मैं सहज हो पाता हूँ। पत्नी भी मुझे इस मामले में कई बार समझा चुकी हैं। शायद इसी का नतीजा था कि अपने सवाल का उत्तर ढूँढ़ने की बनिस्बत मैंने डॉक्टर साब से उनका नाम पूछ डाला - डॉक्टर बलवंत राय और मैंने अपना बताया - सुमित मुद्गल। दूसरे दंपति ने भी अपना परिचय दिया - संजीव सिन्हा और उनकी पत्नी काजल। नामों की अदला-बदली के

बाद हम सबने एक मतलबपरक ठहाका लगाया कि देखो कैसी-कैसी बातें करते आ रहे हैं घंटों से और अभी तक एक-दूसरे के नाम भी नहीं जानते!

परिचय के इस कूमिल ने अपना काम खूब किया। बिना पुनर्स्मरण कराए राय साहब बोले, 'कारण तो जी क्या होना है, आपने इसे किस्मत का नाम देना है तो किस्मत कह लो...'

हम सब अब भी एकटक होकर निहार रहे थे। मैंने तभी गौर किया कि जैसे किसी धरातल पर स्वयं को प्रक्षेपित करने की कोशिश में वे काफी एकाग्र हो रहे थे। थोड़े संघर्ष से नतीजे पर पहुँचने की कशमकश से चूर।

'मुद्गलजी किस्मत की बात है... सन् सत्तर में मेरी सगाई तक हो गई थी, फिर भी...' कहकर वे रुक गए। सीधे हाथ की उँगलियों का गिरोह एक अनायास ऐंठन लेकर वापस आ चुका था।

'फिर भी क्या... कोई व्यवधान आ गया... कहीं कोई इश्क-विश्क का चक्कर...?'

'अजी ऐसा वैसा कुछ नहीं था, मगर मैं कह रहा था ना कि सब कुछ किस्मत का खेल होता है... शादी नहीं होनी थी तो कहाँ से होती!'

'होता क्या है कि जिसे हम किस्मत कहते हैं, वह हमारे पास कई तरह से आती है, कभी अच्छे खानदान में पैदाइश से तो कभी निम्न परिवार में जन्मने से, कभी अच्छी संगत से तो कभी जाहिलों के बीच रहकर, कभी अच्छी पत्नी के माध्यम से तो कभी कुँवारे रहकर, कभी...' बड़ी लंबी फेहरिस्त थी उनकी। हम थोड़े सकते में पड़े कि आखिर डॉक्टर साब कहना क्या चाह रहे हैं 'इसकी भी हाँ, उसकी भी हाँ' वाला मामला ज्यादा लग रहा है। अपनी अनर्गलता को हमारे चेहरों पर छाते शायद उन्होंने पढ़ लिया था।

धुंध छाँटते हुए बोले, 'दोस्तोवस्की जैसा कंगाल इंसान साइबेरिया में रहकर, जुआ खेलकर, तमाम बीमारियों को झेलकर ऐसा साहित्य लिख डालता है, जो निसंदेह शाश्वत है और उधर श्रीकांत वर्मा जैसे कवि का बेटा होकर अभिषेक वर्मा फरेब करके लोगों को फँसाता है तो क्या मतलब रह जाता है परिवार या परवरिश का...'

थोड़ी धुंध छँटी तो सही पर उतनी ही और आ गई, इसमें आप कहाँ बैठ रहे हैं डॉक्टर साब चाहते हुए भी यह सवाल नहीं किया कि डॉक्टर साब आप, आप कहीं साहित्य-वाहित्य में भी दखल तो नहीं रखते।

'हाँ, वो आप अपनी सगाई की बात कर रहे थे।' मैंने हौले में गाड़ी को पटरी पर बिठाना चाहा।

वे थोड़े सचेत से हुए। एक पल के लिए निगाह मुझ पर जमाई। थोड़े आश्वस्त हुए और किसी आंतरिक दर्द पर काबू पाने की निजात से बोले, 'ओजी हुआ क्या कि उन दिनों हमारा परिवार हापुड़ रहता था, प्रोपर हापुड़ तो नहीं, मगर उससे दो किलोमीटर दूर... मैं तब तक बी.ए. कर चुका था। लड़की हापुड़ की ही थी। हायर सैकेंड्री पास कर चुकी थी। बहुत सुंदर तो नहीं थी, मगर ठीक ही थी। चार भाइयों की अकेली बहन। उसके बाप का दाल-मोठ का अच्छा काम था। मेरी हाइट तो आप देख ही रहे हैं पर उन दिनों खेलने-कूदने से चेहरे पर खूब रौनक रहती थी।

'अब इसे किस्मत नहीं तो क्या करूँगा कि जब सगाई हो गई तो उसके दो-चार रोज बाद ही मुझे बड़ी अजीब सी बीमारी हो गई। पूरे शरीर पर खुजली और खारिश का असर। चमड़ी एकदम काली और सख्त हो गई। जिसने जो डॉक्टर कहा, जाकर दिखाया। खून की उन दिनों जैसी भी जाँच होती थी, कराई। नीम के पत्ते खाने शुरू किए। पपीता-मैथी से लेकर आँवले तक का यथा सेवन किया, मगर मेरी काया ने जो कुरूपित होना शुरू किया तो उसकी लगाम किसी के हाथ नहीं आई। माँ-बाप और भाई, सभी दिल से साथ थे मगर अपनी नियति से लड़ते-लड़ते मैं ही परास्त होने लगा। न कॉलेज जा सकूँ, न खेलकूद सकूँ। शीशा देखूँ तो डर लगे। मुझे देखकर माँ-बाप की आँखों में जो लाचारी-बेबसी छलकती, उसे देखकर मैं सिहर उठता। मैंने तरह-तरह के रोगी देखे थे, मगर कोई मुझे अपनी तरह का अभागा नहीं लगा। आपको सही बताऊँ, अपनी छह फुटी ऊँचाई और स्वास्थ्य पर मुझे कभी गर्व नहीं हुआ था, मगर जब बीमारी ने दबोच लिया तो लगा कि आत्मा-अंतरात्मा की बात ढकोसला है... बाद में माउंट आबू में ब्रह्मा कुमारियों के आश्रम में रहकर पता लगा कि शरीर तो एक वाहन की तरह होता है तो मुझे लगा कि जब वाहन ही छकड़ा हो जाए तो कोई चालक कितना ही पारंगत हो, उसे कैसे चलाएगा कहाँ ले जा पाएगा शरीर से ही तो हम अपने कर्म करते हैं, और कर्मों के आधार पर ही तो इहलोक-परलोक निर्धारित होते हैं। जब शरीर ही सांसारिक नहीं रह पाए तो संसार में इसके रहने का क्या औचित्य है मेरी चमड़ी न सिर्फ झक्क काली और सख्त पड़ गई थी, बल्कि उसमें दुर्गंध भी आने लगी थी, क्योंकि हालचाल और सहानुभूति के लिए आनेवाले लोग भी बंद होने लगे थे।

'मजे की बात ये थी कि यह कुष्ठ रोग भी नहीं था। दिन-रात उस दलान में पड़े-पड़े मैं उकता गया, भूख-प्यास मर गई थी और जब भी खाने को मिलता तो ऐसा खाना कि

गले से नीचे नहीं उतरे - बिना तेल और नमक-मिर्च मसालों वाला। महीनों से वही चल रहा था और फिर भी रोग पर रत्ती भर असर नहीं।

'मेरी बीमारी की खबर मेरे होनेवाले ससुरवालियों को होनी ही थी... कौन लड़की मेरे जैसे बदसूरत आदमी से संबंध रखती रिश्ते की शुरुआत ही थी तो पहले वे जरूर थोड़े चिंतित हुए मगर जब बीमारी ने रौद्र स्वरूप अख्तियार कर लिया तो उन्होंने अपने नसीब को धन्यवाद देते हुए - कि चलो यह सब शादी से पहले ही हो हा गया - कन्नी काट ली।

'उस घुटन और सड़ांध में और जीना असंभव हो गया तो मैंने तय किया कि ऐसे जीवन से क्या लाभ... खुद के दुःख से ज्यादा मैं अपने परिवारजनों के दुःख को लेकर दुखी था, जो सब कुछ करने के बावजूद, कुछ नहीं कर पा रहे थे।

'तो साब मैंने मौका पाकर दो चिट्ठियाँ लिखीं - एक घरवालों के नाम, कि मुझे ढूँढ़ने की कोशिश मत करना, मैं अपना जीवन समाप्त कर रहा हूँ। जो मैंने घर पर तकिए के नीचे छोड़ दी। दूसरी लिखकर अपनी जेब में ही डाल ली कि मेरी मौत के लिए कोई जिम्मेवार नहीं है। यह कदम मैंने स्वेच्छा से उठाया है। तय किया कि रेल की पटरी सबसे मुफीद रहेगी। साइनाइड के बारे में तो तब पता ही नहीं था और न वह मिल सकता था। कुएँ-कुएँ के विकल्प में थोड़ी असफलता झलकती थी - वहाँ तो ढोर-डाँगरों को भी ऐसे नहीं मरने दिया जाता था, फिर मैं तो इंसान था।

मुझे दुनिया से कूच करने की ऐसी धुन लगी थी कि अपनी मंशा को अंजाम देने के लिए हापुड़ स्टेशन से थोड़ा ही दूर मैंने अपना मरणस्थल चुन लिया। अब सोच के हँसी आती है, न कोई सुनसान जगह और दिन भी पूरी तरह ढलना बाकी था। अपनी उत्कंठा से मैंने एकाध बार पटरी पर लेटने का अभ्यास भी किया। छह बजेवाली पैसेंजर ने हापुड़ स्टेशन से चलने से पहले जब सीटी मारी तो मैं उल्टा मुँह किए पटरी में धँस गया और माँ को याद करते हुए 'ओम नमः शिवाय, ओम नमः शिवाय, ओम नमः शिवाय' जल्दी-जल्दी बुदबुदाने लगा। आदमी का जानवर भी अजीब होता है। ध्वनि की गति सघन माध्यम में विरल से ज्यादा होती है, भौतिक विज्ञान के इस हाईस्कूली ज्ञान के कारण मैं आती हुई गाड़ी को किसी भी क्षण अपने पर उतरता हुआ महसूसने लगा... नहीं, मेरा वहाँ से हटने का कोई मन नहीं बना। इसकी शायद दो वजह रही होंगी। एक तो उस हार में मुझे कहीं न कहीं बीमारी के ऊपर अपनी मानसिक जीत लग रही थी क्योंकि भगवान से लाख प्रार्थनाओं के बाद भी इसने मुझे निजात नहीं दी थी, दूसरा संतोष मुझे परिवार को लेकर था, कि अब उन्हें मेरे कारण

त्रस्त, लाचार और बेबस नहीं रहना पड़ेगा। तात्कालिक दुःख होगा, मगर बीमारी के मद्देनजर एक दीर्घकालीन संतोष भी होगा।

अपने से ही थोड़ा छुपकर मैंने कनखियों से उस वनमानस स्वरूप भाप के इंजन को देखा, जो किसी भी क्षण मुझे मोक्ष दिलाने के लिए व्यग्रता से अग्रसर हुए जा रहा था। और जब झपट्टा पड़ा तो मैं किनारे के पत्थरों पर मुँह के बल पड़ा था। नीम अँधेरे की बदहवासी में ही मैंने देखा कि एक हष्ट-पुष्ट, मूँछधारी बुजुर्ग ने मुझे जकड़ रखा था। गाड़ी का आखिरी डिब्बा जब अपनी भड़भड़ाहट थूक कर गुजर गया तो कुछ पल तक तो मैं दबोचावस्था में ही पड़ा रहा।

तब तक वहाँ चार-छह लोग और आ गए थे। आप जानते ही हैं - आत्महत्या कोई जुर्म नहीं है, मगर यदि इसका प्रयास नाकाम हो जाए तो जुर्म बनता है। मगर तारीफ उस मूँछधारी की कि न तो उसने मुझे तमाचा मारकर अहसान जताया और न किसी दूसरी किस्म की नागरीय शराफत दिखाई (जैसे नाम-गाँव की पूछकर घरवालों के सुपुर्द करने जैसा तथाकथित नेक काम) अपनी गिरफ्त ढीली करके तमाशायियों को सरेआम नजरअंदाज करके, किसी दोस्त के अधिकार में गूँथकर वे मुझे एक रेस्टोरेंट में ले गए और गर्मागर्म दूध पिलवाया।

मैं तो सन्न था ही, वे भी बहुत नहीं बोल रहे थे। नाम, गाँव, परिवार, पढ़ाई, रोजी-रोटी के बारे में तफसील से पूछा। उन्होंने सिर्फ पूछा। न कोई हिदायत, न कोई डाँट। गोया बातचीत का कोई सूत्रमात्र हो यह कदम। वो तो मैंने ही बताया कि मैं क्यों मजबूर हो गया था। वे बड़े संतुष्ट लगने लगे। मेरे हाथ की रूखी काली त्वचा पर हाथ फेरने के बाद बोले -

'क्या अजीब है कुदरत का खेल भी... जिस चीज को एक अभिशाप की तरह तुम उठाए फिर रहे हो उससे मुक्ति दिलाना मेरे बाएँ हाथ का खेल है, अगर ऊपरवाले की नजरे इनायत रहे। कम से कम आधा दर्जन मरीजों को मैंने बिल्कुल इसी स्थिति से छुटकारा दिलवाया है...

'मैं होम्योपैथी की प्रैक्टिस कर रहा हूँ। यहाँ नहीं, मेरठ में। यहाँ तो अपने साले के घर पर एक दिन के लिए आया था। शाम को घूमने की आदत भी नहीं है। रेलवे लाइन की तरफ अमूमन कम ही जाता हूँ, मगर किस्मत जो न कराए।

इत्तफाकन आज मुझे थोड़ी सर्दी सी लग रही थी, सो घूमने निकल गया। पहले तुम्हें पटरियों पर कुछ नापते-ढूँढ़ते देखा तो ज्यादा अजीब नहीं लगा, लेकिन जब तुम एक

झटके से पटरी पर लेट गए तो मुझे कुछ खटका। मैं ठहर गया और गौर से तुम्हारी गतिविधियों को देखने लगा। धीमे-धीमे पास भी आता रहा।'

अपने रहस्य को निचोड़कर उन्होंने हौले से गहरी साँस ली, एक गिलास पानी पिया और फिर जैसे कोई अधूरी बात को पूरा करने की अधीरता से बोले -

'शायद ऊपरवाला तुमसे कुछ और करवाना चाहता है, जिसके कारण उसने वह सब नाटक रचा... नाटक मतलब तुम्हारी बीमारी, मेरा घूमना और ऐन वक्त पर।'

मैं कहता भी क्या, बस सुनता रहा। बहुत देर मुझे यूँ ही गुमसुम देखकर वे फिर बोले-

'देखो बलवंत, तुम मरना चाहते थे... तो मान लो तुम दुनिया के लिए मर गए हो... मैं एक मिनट देरी से पहुँचता या जैसे और लोग घूमते हैं, घूमता रहता तो तुम ये मानो, तुम्हारा छुटकारा तो हो ही गया था... तुम ये मानो कि आज तुम्हारा दूसरा जन्म हुआ है, शायद भगवान तुमसे कुछ करवाना चाहते हैं, तभी तो मुझे निमित्त बनाया है।'

'मैं उनकी बातों पर कभी यकीन करूँ तो कभी मन ही मन हँसूँ। न चाहते हुए भी मौत के मुँह से छूटकर मैं सामान्य होकर सोच ही नहीं पा रहा था। शायद ऊष्ण, विषम स्थितियों में भी इंसान किसी छाया को बरकरार रखने की अपेक्षा रखता है। इसी तरह मृत्यु की इस मनःस्थिति में, हो सकता है, मेरे अंदर का कोई भाग जीना चाह रहा था, इसलिए उनकी बातों का समर्थन करने लगा। मैं मरने चला था मगर जिंदा बच जाने के कारण उनका ऋणी हो गया था।

तो जी रात को वे मुझे अपने साले के घर पर ले गए और अगली सुबह हम मेरठ निकल लिए। जैसा मैंने आपको अभी बताया था, वे होम्योपैथी के डॉक्टर थे। डॉक्टर साब को, औरों की तरह मैं भी, पंडितजी कहने लगा। वे विधुर और निस्संतान थे, अतः अपना पूरा समय जनसेवा में लगाते थे। घर उनका था ही। खाने-पीने की कोई कमी थी नहीं।

आप यकीन करेंगे कि तीन महीने में उन्होंने, पता नहीं किस जादू से, मेरा रोग ही गायब कर दिया... जैसे कभी कुछ हुआ ही न हो! इसी करिश्मे के तहत मेरा होम्योपैथी में विश्वास जगा और उनके साथ बैठकर मैं भी नन्हीं सफेद गोलियों से खिलवाड़ करने लगा। उन्होंने मुझे घर पर अपना बेटा और क्लीनिक पर सहायक बना लिया। मरीजों का विस्तृत ब्यौरा मैं ही दर्ज करता और मोटे तौर पर इलाज भी सुझाता जिसे वे मेरे साथ डिस्कस करते। मेरी सही समझ पर अक्सर वे मुझे उत्साहित करते और गलती होने पर बताते कि मुझसे कहाँ चूक हुई है। थोड़े दिनों में तो मेरा हाथ ऐसे बैठ

गया जैसे मेरी सात पुश्तें यही काम करती आई हों। शायद इसका कारण यह भी रहा हो कि मैं होम्योपैथी की किताबें भी लगातार पढ़ता था।

उन्हीं दिनों की बात है। मैं जब पूरी तरह से ठीक हो गया तो पता नहीं क्या सोचकर मैंने पंडितजी से घर वापस जाने की इजाजत माँगी। मुझे आए अभी छह महीने से ज्यादा नहीं हुए होंगे। मैं अपनी बीमारी को किसी दुःस्वप्न की तरह भूल चुका था। सुख का सार इसी में तो है कि वह दुख को नेस्तनाबूद कर देता है। मैं जवान तो था ही तो फिर से शादी के ख्वाब देखने लगा था। उधर पंडित जी सिर्फ डॉक्टर ही नहीं थे, मन को भी खूब पढ़ते थे। मन को पढ़ना जानते थे। मैंने सारी चीजें उन्हीं से सीखीं। सीखीं क्या, उन्होंने खुद सिखाईं। कैसे मरीज का विश्वास जीता जाता है, क्या उसकी पसंद-नापसंद है, उसकी उम्र के मुताबिक क्या उचित-अनुचित होता है, इन सबकी बहुत बारीक और सटीक समझ उनमें थी और वे जोर देकर मुझे भी इस तरफ उकसाते थे।

हाँ, तो जब मैंने घर जाने की बात उनसे चलाई तो थोड़ी सकुचाहट के बाद उन्होंने इजाजत दे दी। इजाजत तो दे दी, लेकिन मैं जानता था कि वे खुश नहीं थे। जब मैंने उनसे उनकी नाखुशी का राज जिरह की हद तक ले जाकर पूछा तो बड़े निष्काम भाव से साँस खींचकर बोले, 'ठीक है, तुम्हें चले ही जाना चाहिए! दुनिया में जो लोग दुःख-दर्द और बीमारियों से सड़-गल रहे हैं, उनकी चिंता तुम्हें क्यों हो जाओ और अपना परिवार बसाओ, माँ-बाप के टोहके उठाओ दुनिया का दुख दर्द भाड़ में।' कहते-कहते वे भरभराकर रो पड़े। मुझे इसकी रत्ती भर अपेक्षा नहीं थी। लेकिन अपनी भूल का अहसास एकदम हो गया। मुझे होम्योपैथी में दाखिल-दीक्षित करने से पहले ही एक रोज उन्होंने अपने समाज के सुखों के प्रति (या कहें, दुखों के निवारण के प्रति) मुझे प्रतिश्रुत किया था, जिसे मैं अपनी ही रौ में भुला बैठा था।

मैं अपनी जिंदगी को आज भी, उनकी ही अमानत मानता था। इसलिए नहीं कि उन्होंने रेल के नीचे आने से बचाया था। नहीं, वह आ भी जाता तो मैं अच्छा-बुरा कुछ भी कहने लायक नहीं बचता। बल्कि इसलिए कि सड़ांध मारती त्वचा से जो मैं बहिष्कृत हो रहा था, उससे उन्होंने मुक्ति दिलाई। सच कह रहा हूँ, अगर वह रोग रहता तो किसी न किसी दिन तो मुझे इस लोहपथगामिनी का आलिंगन करना ही था।

'मैंने उनके चरण छूकर पुनः माफी माँगी तो उन्होंने गले लगाकर जीवन के कर्तव्यों के प्रति, मनुष्य होने के कारण, सार्थक उद्देश्यपरक जीवन पर चलने के महत्व पर पुनः प्रकाश डाला। मुझे उनके आचरण और नीयत में जरा भी फरेब नहीं दिखता था।

घर और क्लीनिक दोनों जगह मुफ्त इलाज तो वे करते ही थे, दूसरे गाँव देहात जा-जाकर भी बीमारियों से लड़ते थे। तब मुझे ताज्जुब होता था कि यह सब दौड़-भाग करने के लिए उनमें शक्ति कहाँ से आती है यह तो बाद में अहसास हुआ कि सार्थक सेवा कितनी बड़ी ऊर्जा संचित किए रहती है। मैं खुद इसका गवाह था। उन दिनों, जब उस काली सड़ती त्वचा की परछाईं से भी लोग कतराते थे, पंडितजी गौर से छूकर, सहलाकर रोग की प्रकृति से दो-चार होने में लगे रहते थे। वो तो खैर पुरानी बात हो गई, आप आज भी बताइए कि आम आदमी नहीं, कितने डरमेटोलॉजिस्ट हैं जो मरीज की त्वचा को छूने का साहस करते हैं जबकि सच ये है कि एक अवस्था के बाद त्वचा का रोग जितना त्वचा का होता है, उतना ही मन का हो जाता है। यह जितना ऊपरी है, उतना ही अंदरूनी भी है। हमारे शरीर की तमाम कुरूपताओं को त्वचा ढकती है, मगर जब त्वचा ही विद्रोह कर उठे तो क्या होगा शरीर या उसकी कोई भी क्षमता किसी लायक बचती है।

मैं यह जानता था कि उन्होंने अपने जीवन में कितने बलवंतों को मुक्ति दिलाई है। फिर भी मैं दूसरों से अलग और उनका चहेता बन गया। मेरा आचरण उन्हें किसी सदमे से कम नहीं लगा होगा क्योंकि पहले तो तीन दिन वे बुखार से त्रस्त रहे और उसके कई दिन तक अशक्ति की लपेट में। मैं अपनी सारी शिक्षा-दक्षता उन पर आजमाऊँ, मगर सब बेअसर...।

तभी उन्होंने आबू चलने का सुझाव दिया।

मैंने तो कभी यह नाम भी नहीं सुना था।

'अच्छी जगह है आबू पहाड़। एकांत प्रदेश है और सबसे बड़ी बात ये, जो शायद तुम अभी तक नहीं जानते हो, कि वहाँ ब्रह्म कुमारियों का आश्रम है, जिसके साथ हमारी कई वर्षों की सहभागिता है। तुम्हें अच्छा लगेगा... उनके पास व्यापक दृष्टि और आयोजन होता है।' उन्होंने अपनी बात सूक्ष्मता से ही कही, मगर मुझे चौंकाने के लिए काफी थी। आबू पहाड़ और ब्रह्मकुमारी, क्या बलाएँ हैं और सच बात तो यह है कि उम्र की इस दहलीज पर खड़े होकर मेरे मन में ऐसे-ऐसे विचार भी भड़भड़ाने लगे जिन्हें साफ तौर पर अनैतिकता की संज्ञा ही दी जा सकती थी।

हापुड़ से निकलकर मैं मेरठ आया था और अब उनके साथ, मेरठ से निकलकर माउंट आबू। बहुत विशाल परिसर में, प्रकृति की गोद में बना है उनका आश्रम। यहाँ आकर जैसे मेरा तीसरा जन्म हुआ। इसलिए नहीं कि यहाँ आध्यात्मिक स्तर पर जो अनुभव हुए थे, पहले कभी नहीं हुए थे, बल्कि जिंदगी और मौत के बीच चलती तकरार की जो

गुत्थम-गुत्था यहाँ देखी, वैसी कहीं पहले नहीं देखी थी। यहाँ उनका एक पचास बिस्तरों का हॉस्पिटल तो था ही जिसमें पंडितजी सहित दूसरे डॉक्टर अपनी सेवाएँ प्रदान करते थे, एक छोटा-सा वृद्धाश्रम भी था जिसकी एक-एक ईंट पर जिंदगी मौत का कहर ढा रही थी। वहाँ कोई बंदिश भी थी नहीं, सो मैं मरीज देखने के बाद उन लोगों से गपियाता-बतियाता। चार-चार पुत्रों द्वारा निष्कासित पिता था वहाँ, तो अकेले पुत्र द्वारा प्रताड़ित पिता भी। किसी के बच्चों का अच्छा व्यवसाय था तो किसी के रिश्तेदार अमरीका में। यूँ एकाध गरीब बुजुर्ग भी थे लेकिन अधिकांश की संततियाँ संपन्न और सुसंस्कृत सी ही थीं। एक वृद्ध को अस्थमा था, जिसका इलाज मैं ही कर रहा था। जनवरी के शुरू की बात थी। शिमला-विमला में बर्फ गिरने से तापमान एकदम गिर गया था आबू में। उस सज्जन का अस्थमा ऐसा उखड़ा कि काबू में ही न आए। मैं और पंडितजी दिन रात उनके साथ भिड़ंत करते रहे मगर कोई सुधार ही नहीं। तीसरे रोज पंडितजी से वृद्धाश्रम के कर्ता-धर्ता, हेमंतभाई को मशवरा दिया कि इनका वक्त आ गया है, इसलिए जिसे मिलना हो, मिल लें।

तीन दिन तक कोई नहीं आया।

चिता को आग हेमंतभाई को ही देनी थी। जैसे ही चिता ने आग पकड़ी, वे मेरे कंधे पर फकक पड़े 'डॉक्टर साहब, चालीस बीघा जमीन छोड़ी इस इंसान ने अपने इकलौते बेटे के नाम। उसे जयपुर में घर बनवाकर दिया। एक्सपोर्ट के धंधे के लिए पैसा अलग दिया, मैंने फोन करके आखिरी दर्शन करने की कल बात कही तो हरामी कहता है - हेमंतभाई पैसे की चिंता मत करना, मैं ड्राफ्ट भेज दूँगा।'

बताते-बताते उनकी आँखें सजल हो गईं, पर बिना नियंत्रण खोए उन्होंने फिर अपनी रफ्तार पकड़ ली।

'आबू पहाड़ के ऐसे कई अनुभव रहे जिन्होंने मुझे झकझोरकर रख दिया, पंडितजी तो मेरे सामने थे ही, अब हेमंतभाई की मिसाल भी मेरे आगे थी। अपने पेशे से जनसेवा के लिए मैं और ज्यादा समर्पित हो गया। आबू पहाड़ से तो जो संबंध तीस साल पहले बना था, वो स्थायी ही हो गया। कोई पाँच महीने मेरे अब आबू में ही गुजरते हैं। वहाँ जितनी सेवा मैं मरीजों की करता हूँ, उतनी ही मेरी भी होती है। तमिलनाडु से लेकर बिहार तक से लोग हमारे यहाँ आते हैं। आत्मा-परमात्मा का ज्ञान तो होता ही है पर जीवन के प्रति जो नजरिया ब्रह्मकुमारी आश्रम में दिया जाता है, वह बहुत जरूरी है... जीवन के लिए आत्मा का बोध और उसके शुद्धिकरण के लिए अग्रसरता, सच कहता हूँ रोग पर जीत के लिए उतनी ही जरूरी हैं जितनी ये दवाई-गोलियाँ।

हाँ तो आपने शादी की बात पूछी थी ना... मैं कोई फरिश्ता नहीं था, मगर जब यह सब देखा तो मन उचट गया। थोड़े समय बाद पंडितजी ही नहीं रहे। उन्हें कैंसर निगल गया। उसके बाद तो मैंने शादी की बात सोचनी ही बंद कर दी। पता नहीं क्यों मेरे अंदर यह खौफ बैठ गया कि यदि अब यह सब किया तो मैं पुनः उसी काले कोढ़ का शिकार हो जाऊँगा जिससे निजात पंडितजी ने ही दिलाई थी और जनसेवा का मुझसे व्रत रखवाया था।

कोई दो साल पहले मेरे छोटे भाई ने मुझे मेरठ में ही ढूँढ़ निकाला। उसने जो बताया तो मुझे बड़ा अफसोस हुआ। कोई पाँच साल पहले माँ को अस्थमा का दौरा लील गया। साल भर में पिताजी भी कूच कर गए। अब आप ये देखिए कि अस्थमा के मैंने, ज्यादा नहीं तो चार-पाँच हजार मरीजों को तो ठीक किया ही होगा, मगर अपनी माँ, जिसने मुझे न सिर्फ पैदा किया था, बल्कि काले कोढ़ के रोग के दिनों में निमिष मात्र भी मेरा साथ नहीं छोड़ा था, के लिए ही मैं कुछ नहीं कर सका। गुरुजी की कसम की बंदिश पर मुझे खूब लज्जा आई... ऐसी भी क्या कसम, जो आपका जीना हराम कर दे। मैं आपको बताऊँ उस दिन के बाद से, मुझे भीष्म पितामह कभी अच्छे नहीं लगे और जैसे यह नुकसान कोई कम था, सो छोटे भाई की पत्नी भी भगवान को प्यारी हो गई। वही अब, बच्चों सहित, मेरे साथ, मेरठ रहता है।

एक बार वही मुझे गाँव ले गया था, मेरा वही गाँव जहाँ मैंने गुल्ली-डंडा खेला, कोल्हू हाँका, गेंद-तड़ी और लँगड़ी टाँग खेली, बम्बा नहाया, लेकिन मैंने देखा कि अब वहाँ वैसा कुछ भी नहीं है। न चौके-चबूतरे बचे थे, न गन्ना पिराने के लिए कोल्हू, बम्बा भी अटा हुआ और सरकंडों की खौफनाक बढ़वार में जकड़ा सा। मगर सबसे गौरतलब बात यही हुई कि हापुड़ के एक बैंक के बाहर सुषमा, यही नाम था उस लड़की का जिससे मेरी सगाई तय होकर टूटी थी - जरूर मिल गई। सुखी जीवन जी रही थी। अपने बच्चों से मेरे पैर छुवाए और उन्हें बताया भी कि कैसे एक वक्त मैं ही उनका पिता होने जा रहा था। बस किस्मत का खेल... बड़ी हिम्मतवाली औरत लगी जी, वरना बच्चों के आगे...।'

हमारी ट्रेन लगातार चल रही थी। मेरे सिवाय बाकी जनता कब की सो गई थी, इसकी मुझे खबर ही नहीं लगी। अजमेर आने को था। वहाँ बीसेक मिनट का हाल्ट था। ट्रेन वहाँ रुकी तो हमने गर्मागर्म चाय पी। डॉक्टर साहब मुझे ब्रह्मकुमारी आश्रम में शरीक होने की सलाह हर पाँच-दस मिनट में दे डालते थे। मैंने गौर किया कि अपनी पेशेगत दक्षता के अलावा ज्यादा सुकून उन्हें आश्रम में आने के बाद आत्मा-परमात्मा के मध्य संबंध और समीकरणों के अभिज्ञान से मिलता था। कितनों की जान बचाई,

कितनों का दुःख कम या दूर किया, इसे लेकर तो तीस वर्ष का आँकड़ा रखना ही नामुमकिन था, पर राजयोग को इन तमाम वर्षों से अपनाते हुए उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार जैसे सांसारिक राक्षसों पर जो विजय पाई है, वह अनिर्वचनीय है। उसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है। ब्रह्मकुमारियों के कार्य को भारतीय संस्कृति और भारतीयता की अद्भुत उपलब्धि बताते हुए वे अपने देश की उन्नत सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विरासत पर सगर्व भाषण देने लगे। कुछ देर बाद, कुछ भूल सुधार सी करते हुए वे बोले, 'इतनी देर से मैं ही अपनी रामकहानी सुनाए जा रहा हूँ, आप भी तो कुछ अपना बताएँ।'

'अजी डॉक्टर साहब क्या मजाक करते हैं, अपना तो सुनाने लायक कुछ है ही नहीं।' मैंने लगभग माफी सी माँगी।

'फिर भी...'

'कुछ है ही नहीं' उनकी कहानी के बरक्स मेरा तो सब कुछ लिपा-पुता सा ही था।

'कहाँ काम करते हैं आप'

'एक फार्मास्यूटिकल ग्रुप है, उसकी एक पैकेजिंग यूनिट में मैनेजर हूँ। कोई **150** कर्मचारी हैं, जिनमें दो तिहाई महिलाएँ हैं।'

'क्या महिलाओं में विधवाएँ भी हैं'

'जी हाँ।'

'कितनी हैं'

'कोई दस-बारह।'

'ये तो बहुत अच्छा है।'

'क्या।' मैं लगभग चौंक पड़ा।

'कि आप एक फार्मास्यूटिकल कंपनी में हैं।'

तभी ट्रेन ने जोरदार सीटी मारी और खिसकना शुरू कर दिया। हमें अपने-अपने गिलासों को वहीं पटककर भागना पड़ा।

'अब थोड़ी देर झपकी ले ली जाए डॉक्टर साब।' ट्रेन में घुसने पर मैंने सुझाया।

'बिल्कुल।'

'आपके साथ भी आज क्या खूब समय कटा।'

'अपना विजिटिंग कार्ड देंगे।'

'जरूर-जरूर' और मैंने अपना मोबाइल नंबर घसीटकर कार्ड उन्हें पकड़ाकर कहा, 'आइए कभी अहमदाबाद।'

सुबह के पाँच बज रहे होंगे, जब उन्होंने मुझे उठाकर कहा 'मुद्गल साहब चलता हूँ, आबू रोड आ गया है।'

मैं गहरी नींद में था। हड़बड़ाकर उठ गया और उन्हें विदा करने बाहर आ गया। बमुश्किल पौ फटी होगी। गरमी के मौसम का ही असर था कि कुल्हड़ों में रबड़ी बेचनेवाले इक्का-दुक्का लड़के अब भी चहलकदमी कर रहे थे। उन्होंने मुझसे एक कुल्हड़ 'खींचने' का इसरार किया, जो मुझे प्रतीक्षारत नींद के झोंके के कारण स्वीकार्य नहीं लगा।

फिर अपना सामान नीचे रखकर यकायक उन्होंने मेरी सीधी हथेली को अपने खुरदरे पंजों में दबोच लिया।

'मुद्गल साहब आप अपनी यूनिट में कुछ भी काम पर रखवा लीजिए, मैं चौथा जनम भी लेना चाहता हूँ।'

और तभी गाड़ी ने सरकना शुरू कर दिया। मैं पूरे विभ्रम में था कि आखिर गाड़ी का इंजन किधर लगा है।